मराठी आत्मकथा

डॉ. वृषाली सु. मांद्रेकर

भारतीय साहित्य में मराठी आत्मकथा समृध्द एवं विकसित मानी जाती है। इसका श्रेय मुख्यतः दलित एवं नारी रचनाकारों को जाता है। दलित लेखन की परंपरा नगरकर से आरंभ होकर आजतक सतत विकसित अवस्था में विद्यमान है। इसमें हम प्रसिध्द लेखकों की पत्नियों की भी अहम् भूमिका पाते है।

आठवें दशक में मराठी में बहुत सी आत्मकथाओं का सृजन हुआ, जिनमें से प्रमुख इसप्रकार है -

1. जागीरदार गजानन - संध्याकाळ (1971)
2. खाडिलकर यमुनाबाई - वटवृक्षाच्या छायेत (1972)
3. लिमये अरूण - क्लोरोफॉर्म (1974)
4. सावे आशालता - पानाआडचे फूल (1975)
5. कुलकर्णी शांताबाई - अपुरी कहानी (1976)
6. कोसंबी धर्मानंद - धर्मानंद (1976)
7. नगरकर राम - रामनगरी (1977)
8. गावसकर सुनील - सनी डेज (1977)
9. जोशी जी. ए. - स्वरगंगेच्या तीरी (1977)
10. जोशी रा. भि - साठवणी (1978)
11. पवार दया - बलुतं (1978)
12. कोंडविलकर माधव - मुक्काम पोस्ट देवाचे गोठणे (1979)
13. सोनकांबळे प्र. ई. - आठवणीचे पक्षी (1979)
14. काणेकर अनंतर - अनन्तिका (1979)
15. गोखले रमाबाई - सहजीवन (1980)

मराठी में राजनीतिक सामाजिक क्षेत्रों में से महत्वपूर्ण व्यक्तियों के अलावा साहित्य, संगीत, नाटक, सिनेमा, नृत्य, उद्योग आदि से जुड़े हुए

आत्मचरित्रकार भी लोकप्रियता हासिल कर चुके है। दगडू मारूती पवार उर्फ दया पवार की 'बलुतं' आत्मकथा (25 दिसंबर 1978) प्रकाशित हुई और उनकी वेदनाओं का 'बलुतं' भारतीय समाजव्यवस्था के देन के रूप में प्राप्त हुआ यह जानकर पाठक सिर से पाव तक हिल जाता है। गाँव में महारों (हरिजन) के लिए गाँव में बडे अंमलदारों के घोडों के सामने दौडना, उनके जानवरों की देखभाल करना, घास-पानी देना, दौंडी पीटना, किसी के मरने पर गाँव-गाँव में जाकर समाचार देना, मृत जानवरों को खींचकर ले जाना आदि काम परंपरा से करने के लिए बाध्य किया जाता है। यह काम करने के बाद उनको धान दिया जाता है। जिसे 'बलुतं' कहा जाता है।

महारों के जीवन के अनेक संदर्भों में स्वानुभूति के कारण पैनापन आया है। लेखक विभिन्न समस्याओं से गुजरा है, जिससे अनुभूति की प्रामाणिकता अनेक घटनाओं में अभिव्यक्त हुई है और पढकर पाठक भी उद्वेलित हुए बिना नहीं रहता। अपने जीवन की समस्याओं, मृत जानवरों को ढोना, अंधश्रध्दाओं का परिणाम, महारों की अस्पृश्यता के कारण की गयी उपेक्षा, नारी जीवन की व्यथा आदि का सटीक एवं पारदर्शी चित्रण किया गया है।

उन्होंने अपनी बचपनावस्था का वर्णन किया है 'मेरी बाल्यावस्था कभी गाँव में तो कभी शहर मे गुजर गयी। मेरा एक पाँव गाँव मे तो दूसरा शहर में ऐसा किसीने कहा तो गलत नहीं होगा। आज भी पूर्ण रूप से शहर या गाँव में नहीं रहता... मेरी मानसिकता ही ऐसी विखंडित जरासंघ जैसी दो दिशाओं में फेंकी हुई है। उन्होंने चालीस सालों के इस जीवन पट में शहरी एवं देहाती महारों की स्थिति पर प्रकाश डाला है।

उनकी कभी-कभी येसकरपाली (गाँव में हर दरवाजे पर जाकर अन्न माँगना) आती थी, उस समय उन लोगों को किसी ने ताजी रोटी नहीं दी। ज्यादातर बासी रोटी ही मिलती थी। उस समाज में अंधश्रध्दा का भी बोलबाला था - डोर देना, भविष्य देखना, देवी माता का आना, भभूती लगाना, करनी करना, खंडोबा के लिए बकरा काटना आदि प्रकार दृष्टिगोचर होते हैं।

गाँव में महारों की उपेक्षा, तिरस्कार किया जाता था। घृणित नजरों से देखा जाता था। अन्य दलित भी इनको अपने साथ किसी भी व्यवहार में शामिल नहीं करवाते। इतना ही नहीं चमार दलित होते हुए भी महारों को अपने साथ बैठे नहीं देते थे।

बाबासाहब आंबेडकर के प्रभावों के कारण उन्होंने मृत जानवरों का मांस खाना, जानवरों की खाल निकालना, छोड़ दिया था। उनको अपने व्यक्तित्व की पहचान हुई थी स्वयं में कोई कमी नही है, गाँव के कोंडवाडे से बाहर आना चाहिए और इसलिए पढ़ना पडेगा, शहर के ब्राह्मण बनिया के बच्चो को भी हम पढ़ने में पीछे छोड सकते है।

नारी जीवन की पीड़ा और उसकी की गयी उपेक्षा हर दम दृष्टिगोचर होती है। गरीबी, अज्ञान से पीडित इस समाज ने ज्यादा तर औरतों पर जुल्म ही ढाये हैं।

एक बार आंबेडकरजी का भाषण सुनने के बाद उन्हें मनुष्य होने का खुद के अस्तितव का बोध हो जाता है। परिणाम स्वरूप वे पढ़ने लगते है, उन स्थितियों में भी थोड़ा बहुत विरोध करते हैं। मरे हुए जानवरों का मांस कोई न खाए इसलिए उस मृत ज़ानवर पर केरोसिन डाला जाता है।

इस प्रकार 'बलुतं' आत्मकथा आंचलिकता से परिपूर्ण है। इसमें चित्रित विभिन्न व्यक्तिरेखाओं, स्वाभाविक पहलुओं का सटीक वर्णन लेखक ने

किया है। शहरी-ग्रामीण-लेखनशैली एवं वहाँ की बोली भाषा का उपयोग किया गया है। उसमें सबूर, डल्ली-डुल्ली, सागुती, पड, वशाट, चिलबाट, चिनपाट, गुडसा, चाण्या आदि आंचलिक शब्दों का भी प्रयोग किया गया है।

डायरी शैली में लिखित 'मुक्काम पोस्ट देवाचे गोठणे' (1979) माधव कोंडविलकर की आत्मकथा प्रकाशित हुई जिसमें सात आठ साल के जीवनसंदर्भों को रेखांकित किया गया है। इस आत्मचरित्र की शुरूआत में उन्होने लिखा है - 'स्वयं भोगे हुये अनुभूत जीवन को शब्दों का आधार लेकर उतारना शुरू किया। पहले तो कविताएं रची कथाएं लिखी, पर उसमें उनको समाधान नहीं मिला। उनको लगा कि उनका अनुभव विश्व बहुत बडा था। उसे आत्मनिवेदन के अलावा दूसरा माध्यम नहीं था।

अस्पृश्यता, अशिक्षा, अंधविश्वास के कारण इनको बहुतसी समस्याओं का सामना करना पड़ा। अस्पृश्य लोगों की छाया बदन पर ना पड पाए इसलिए औरतों का दूर से जाना, दिन्या का चमार के बाल काटने पर नहाना आदि बहुत से उदाहरण प्राप्त होते है। अशिक्षा से अंधविश्वास भी पनपने लगते हैं, अनेक अनिष्ट प्रथाएं और अंधश्रद्धाएं समाज में प्रचलित हैं जैसे पत्नी के बदनपर से नारीयल, उरद उतारकर फेंकना, गौरी को मटन और दारू का नैवेद्य दिखाना, भभूती फूँक कर काम करना निंबू उतारना आदि।

इन लोगों को पापी पेट के लिए खून-पसीना एक करने पर भी इच्छानुसार खाना प्राप्त नहीं होता। पिताजी को शराब का व्यसन है। उसकी माँ की व्यथा इन शब्दों में व्यक्त होती है - 'मी म्हन् ह्येच्या घरात दिवस काडलं,दुसरी बिसरी आस्ती तर घरास आग लावून कदीच गेली आसती! लग्न लागल्या पासून ह्या घरात मी हाल काढताय. कदी आंगावर चांगला कपडा दिल्ला नाय का कोनाचा सुकाचा शब्द नाय जिसका हिन्दी में भावानुवाद है - मैं ही हूँ जिसने घर में इतने दिन बिताए है। दूसरी कोई होती तो अबतक घर में आग लगाकर भाग गई होती। शादी के बाद उन्हें आजतक कोई सुख नहीं मिला, ना बदन पर अच्छे कपडे पहनने के लिए दिए और ना ही सुख चैन के दो बोल।' दारू पीना, झगड़ा करना, मारना-पीटना, यह इस समाज में आम बात है। घर में भी आपसी तनाव है, समाज की तो बात ही अलग है।

उनको नौकरी में पंद्रह साल बिताने पर भी कभी सम्मान नहीं मिला ना ही किसी ने उनकी ओर सहृदयतापूर्वक देखा। हमेशा उनके हिस्से में कटुता ही आयी। समाज में जब मनुष्यका मनुष्य को छूना गंदगी माना जाता है, तब इन्हें बहुत दुःख होता है - 'मुझे अपना दुःख किसी से कहना है, लेकिन इस गाँव में मेरी जन्मभूमि में मेरे दुःख में समरस होनेवाला कोई नहीं है।

उनकी व्यथा, दुःखभरी दास्तान ही इस आत्मकथा में अभिव्यक्त हुई है जिसके संदर्भ में सौ उर्मिला औरादकर ने अपने मत से पुष्टि की है - कोंडविलकर की आत्मकथा जीवनानुभवों का एक आलेख है....कोंकण के लोग रीतिरिवाज, रूढी-परंपरा, जातीयता, अंधश्रध्दाओं का इसमें सटीक चित्रण किया गया है।

अन्य एक आत्मकथा प्र.ई. सोनकांबळे लिखित 'आठवणीचे पक्षी' (27 जनवरी 1979) तथा डॉ. सूर्य नारायण रणसुभेद्वरा अनुवादि 'यादो के पंछी; में भी दलितों की व्यथाओं को अभिव्यक्ति मिली है। वर्णव्यवस्था, जातिप्रथा ने समाज में ऐसे पर फैलाए है कि समाज में दलितों को हमेशा सभी सुविधाओं से अलग रहना पडा है। ऐसे ही उपेक्षित कांबळे को गरीबी और अस्पृश्यता के कारण असंख्य यातनाये सहन करनी पडी। उनका अनुभूत यह दुःख-शोषण इस आत्मकथा में अभिव्यक्त हुआ है।

बचपन में महार-माँग माँ बाप के जीवन में मृत जानवर का माँस पाने के लिए होनेवाले झगड़े, रोगी जानवरों का माँस खाकर मरनेवाले लोग, काम करने के बाद भी ऊपर से पत्तल पर डालते हुए मिट्टी में पडा हुआ खाना खाने की लाचारी, मरे हुए कुत्ते को मर जाने के बाद दूर फेंकना आदि ऐसे प्रसंग है जिनसे हम रूबरू हो जाते है तो कभी-कभी घृणा से मन काँप जाता है।

इनके यहाँ गरीबी इतनी थी कि न कभी पहनने को वस्त्र मिला न चप्पल - उन्होंने मैट्रिक पास होने तक चप्पल नाम की कोई चीज नहीं देखी, होली खेलने के बाद रंगे हुए कपड़े जो दूसरों द्वारा फेंके जाते थे उनको पहनकर ही उन्होने अपना जीवन बिताया।

पढ़ लिखकर प्राध्यापक बनने के बाद भी महारों के प्रति उपेक्षा, अवहेलना कम नहीं हुई। पढ़ाई में भी संघर्ष करना पड़ा, बहन के यहाँ आश्रित बनकर कष्टों का सामना करते हुए कॉलेज में व्याख्याता बने। जाति का पता चलनेपर उँटवाले के व्यवहार में बदलाव आना, ब्राह्मण शिक्षक के साथ बैठकर खाने के बाद यात्री द्वारा आक्रोश अभिव्यक्त करना - "साहब आप कुछ भी कहीए यह परल्या (लेखक) तो उत्तम लोगों के पंगत में बैठकर खाये यह अच्छा नहीं है। वह उसके अपने स्तर तक ही रहे" - (पृ.65) इसप्रकार के विचारों से जाति विषयक समस्या तथा होनेवाले अत्याचारों से पाठक अवगत हो जाता है।

यह आत्मचरित्र विभिन्न व्यक्तिरेखाओं से अनुभवजन्य प्रसंगोंसे बहुत ही उत्कृष्ट बन पड़ा है। इस आत्मकथा के संदर्भ में दत्ता भगत जी के विचार इसप्रकार प्राप्त होते हैं-

बंड, विद्रोह, प्रक्षोभ और नकार यह दलित साहित्य को बहुचर्चित आशयगत निरालापन यहाँ नहीं है। यहाँ रूढ अर्थ से उपयुक्त विशेषतायें न होते हुए भी परंपरा से किए गये अन्याय औरतों के दिल को छू लेते है। पाठक सुन्न हो जाता है। उद्देश्यों का बोझा लेखक ने अपने पर लाद नहीं लिया है इसलिए यह यादें लक्षणीय है। वाचक को यह यादे जाने अनजाने दलितों की वेदनाओं पर विचार करने के लिए प्रवृत्त करती है।

काव्य, नाटक, लघुनिबंध, अनुवाद, यात्रावर्णन आदि विभिन्न विधाओं के लेखक, पत्रकार, वक्ता के रूप में सहृदय व्यक्ति, निसर्ग-मनुष्य के प्रेमी, हजरजबाबी अनंत काणेकर, 'अनन्तिका' (1979) में इन विभिन्न पहलुओं को रेखांकित करते हैं।

दो साल की उम्र से ही अपनी नानी के पास रहनेवाले अनंत काणेकर समन्वयवादी थे, सहृदय थे, कवि से पत्रकार बनने तक की जिंदगी में अनुभूत विभिन्न अनुभूतियों, संत्रास, पीड़ा, अच्छे-बूरे की पहचान आदि का आत्मकथा में सटीक वर्णन किया है।

* * *